Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

Original Article

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारत का कृषक आन्दोलन

प्रभु यादव[1] ,डॉ. रवीन्द्र कुमार ठाकुर[2]
[1]शोधार्थी, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा बिहार
[2]राजनीति विज्ञान विभाग, ललित नारायण जनता कॉलेज, झंझारपुर
Email-prabhubth09@gmail.com

Manuscript ID:
JRD -2025-170902
ISSN: 2230-9578
Volume 17
Issue 9(A)
Pp. 4-15
September 2025
Submitted: 23 Aug. 2025
Revised: 3 Sept. 2025
Accepted: 21 Sept. 2025
Published: 30 Sept. 2025

सारांश

भारत में कृषक आंदोलनों की परंपरा एक दीर्घकालिक एवं संघर्षशील ऐतिहासिक यात्रा को प्रतिबिंबित करती है, जिसने औपनिवेशिक शासन से लेकर समकालीन लोकतंत्र तक किसानों की आवाज़ को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मंचों पर प्रभावी रूप से स्थापित किया है। इन आंदोलनों का आरंभ ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि कर प्रणाली, जबरन नकदी फसलों की खेती तथा जमींदारी शोषण के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध से हुआ। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नील विद्रोह, पाबना आंदोलन एवं दक्कन दंगों जैसे संघर्षों ने ग्रामीण कृषक समाज में राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना के बीज बोए, जिसके फलस्वरूप विविध सामाजिक संगठनों का गठन भी हुआ। महात्मा गांधी के नेतृत्व में चंपारण और खेड़ा में आयोजित सत्याग्रह ने इस चेतना को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ते हुए एक व्यापक जनांदोलन का रूप प्रदान किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भूदान एवं ग्रामदान आंदोलनों ने भूमि के न्यायपूर्ण वितरण की अवधारणा को समाज के मध्य प्रसारित किया। आगे चलकर 1980 एवं 1990 के दशकों में आर्थिक अधिकारों पर केंद्रित कृषक आंदोलनों-जैसे कि शरद जोशी द्वारा स्थापित 'शेतकरी संगठन'-ने वैश्वीकरण, बाजारीकरण एवं कृषि नीति के अंतर्विरोधों को उजागर किया। इन संघर्षों ने न केवल स्वतंत्रता आंदोलन को धार प्रदान की, बल्कि कृषक वर्ग की सामाजिक चेतना को भी सुदृढ़ किया। स्वतंत्रता के उपरांत भी कृषि संकट, भूमि सुधारों की विफलता, ऋणग्रस्तता, तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की मांग जैसे बहुआयामी मुद्दों ने इन आंदोलनों को निरंतरता प्रदान की। यह ऐतिहासिक यात्रा यह संकेत करती है कि भारतीय कृषक केवल उत्पादनकर्ता नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के सक्रिय संवाहक भी रहे हैं। यह आलेख विभिन्न कालखंडों में कृषक आंदोलनों के स्वरूप, कारणों, रणनीतियों एवं प्रभावों की समग्र समीक्षा प्रस्तुत करता है।

मूल शब्द : *कृषक आंदोलन, भूमि सुधार, न्यूनतम समर्थन मूल्य, औपनिवेशिक कृषि नीति, कृषि संकट, ग्रामीण अर्थव्यवस्था।*

परिचय

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ देश की एक बड़ी जनसंख्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। परंतु इस कृषि व्यवस्था के केंद्र में स्थित कृषक वर्ग का इतिहास केवल अन्न उत्पादन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई का भी गवाह रहा है। भारत में कृषक आंदोलन केवल आर्थिक असंतोष का परिणाम नहीं रहे, बल्कि वे सामाजिक अन्याय, प्रशासनिक शोषण और राजनीतिक उपेक्षा के विरुद्ध उठी आवाजें भी रहे हैं। भारत का इतिहास केवल राजाओं, युद्धों और सत्ता के बदलाव की कहानी नहीं है। यह उस अदृश्य लेकिन मजबूत जनशक्ति की भी कथा है, जिसने अपने समय की प्रणालियों को चुनौती दी और खेतों, खलिहानों और गाँवों से आवाज उठाई।

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)
This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International Public License, which allows others to remix, tweak, and build upon the work noncommercially, as long as appropriate credit is given and the new creations ae licensed under the idential terms.

Address for correspondence:
प्रभु यादव, शोधार्थी, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा बिहार

How to cite this article:
यादव, . प्रभु ., & ठाकुर, . रवीन्द्र . कुमार . (2025). ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारत का कृषक आन्दोलन. Journal of Research and Development, 17(9(A)), 4–15. https://doi.org/10.5281/zenodo.17491892

Quick Response Code:
Website: https://jrdrvb.org/
DOI: 10.5281/zenodo.17491892
OPEN ACCESS

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

इस जनशक्ति की सबसे स्पष्ट और शक्तिशाली अभिव्यक्ति कृषक आंदोलनों में देखने को मिली है। किसान, जो भारतीय समाज की आर्थिक रीढ़ हैं,ऐतिहासिक रूप से उपेक्षा, शोषण और दमन का शिकार रहे हैं। यहाँ के कृषक आंदोलन केवल आर्थिक समस्याओं पर प्रतिक्रिया नहीं हैं; बल्कि उन्होंने सामाजिक असमानताओं और राजनीतिक उपेक्षाओं के खिलाफ एक व्यापक प्रतिरोध का स्वरूप धारण किया है

उपनिवेशी शासन के दौरान लागू की गई कर प्रणाली, जबरन नकद फसलों की खेती और भूमि के अधिकारों का उल्लंघन ने किसानों को विद्रोह करने और आंदोलनों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। नील विद्रोह, चंपारण सत्याग्रह और खेड़ा आंदोलन जैसे संघर्षों ने यह जागरूकता फैलायी कि संगठित किसान शासक वर्ग पर दबाव डाल सकते हैं। स्वतंत्रता के बाद भूदान आंदोलन, हरित क्रांति के सामाजिक परिणाम, ऋण के जाल और समर्थन मूल्यों जैसे मुद्दों ने नए प्रकार के संघर्षों को जन्म दिया। विशेषकर 21वीं सदी के आरंभ में और 2020-21 के कृषि कानूनों के विरोध में हुए आंदोलनों ने यह स्पष्ट किया कि किसान संघर्ष आज भी महत्वपूर्ण हैं। यह लेख भारतीय किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक यात्रा का विश्लेषणात्मक अवलोकन प्रस्तुत करता है। इसका मुख्य उद्देश्य घटनाओं का केवल वर्णन करना नहीं है, बल्कि यह समझना है कि कैसे ये आंदोलन भारत की सामाजिक संरचना, नीतियों और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं पर प्रभाव डालते रहे हैं। साथ ही, यह लेख इस बात पर भी जोर देता है कि वर्तमान में कृषि संकट के समय में, अतीत के आंदोलनों के अनुभव और चेतना किस प्रकार हमें मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं।

भारत में कृषक आंदोलनों का उदय एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम है, जो औपनिवेशिक शासन द्वारा उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक विषमताओं से संबंधित है। 18वीं सदी के अंत से 20वीं सदी के प्रारम्भिक दौर तक, ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय कृषि व्यवस्था को अपनी व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार ढालने का प्रयास किया। इसके परिणामस्वरूप, पारंपरिक कृषि संरचनाएं टूट गईं और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में असंतुलन उत्पन्न हुआ। ब्रिटिश राज के दौरान लागू की गई विभिन्न राजस्व प्रणालियाँ, जैसे ज़मींदारी, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी, ने किसानों पर केवल वित्तीय दबाव नहीं डाला, बल्कि सामाजिक संरचना को भी अधिक कठोर बना दिया। ज़मींदारों और महाजनों के बीच के गठबंधन ने किसानों को उनकी भूमि से वंचित कर दिया, उन्हें ऋण के चक्रव्यूह में फंसा दिया, और उन्हें वैधानिक रूप से असहाय बना दिया। इसके अतिरिक्त, नकदी फसलों की मजबूरी, उपनिवेशी बाजार पर नियंत्रण, और औद्योगिक कच्चे माल की जबरन आपूर्ति ने किसानों की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया। 19वीं शताब्दी के अंतिम भाग में जो प्रतिक्रियाएँ दमनकारी व्यवस्थाओं के खिलाफ सामने आईं, वे शुरू में स्थानीय, अस्थायी और स्व-रक्षा के उद्देश्य से थीं। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, इन आंदोलनों ने एक संगठित रूप धारण कर लिया और उन्होंने सामाजिक जागरूकता, राजनीतिक संवेदनशीलता और वैचारिक दिशा हासिल की। इन संघर्षों ने न केवल उस समय के शोषण के खिलाफ प्रतिरोध किया, बल्कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की वैचारिक नींव को भी मजबूत किया।[i]

नील विद्रोह, 1859-60

बंगाल के नदिया, मुर्शिदाबाद और पुरबा मेदिनीपुर जैसे जिलों में फैले इस आंदोलन ने औपनिवेशिक शोषण की उस परिपाटी के विरुद्ध एक निर्णायक प्रतिरोध का स्वरूप धारण किया, जिसमें यूरोपीय नील व्यापारियों द्वारा भारतीय किसानों पर जबरन नील की खेती थोप दी जाती थी। किसान न केवल अपनी खाद्य फसलों से वंचित किए गए, बल्कि ठेकेदारी प्रथा की अनियमितताओं, फसलों की बर्बादी और न्यूनतम पारिश्रमिक के अभाव के कारण वे गहरे आर्थिक और मानवीय संकट में धकेल दिए गए। यह विद्रोह मात्र आर्थिक शोषण के प्रतिरोध की अभिव्यक्ति नहीं था, बल्कि यह भारतीय कृषक वर्ग में उभरती उस सामाजिक-राजनीतिक चेतना का प्रतिनिधित्व करता था, जिसने अन्याय के विरुद्ध सामूहिक संगठन एवं प्रतिकार को वैधता प्रदान की। इस आंदोलन ने ब्रिटिश प्रशासन को नील आयोग की स्थापना हेतु बाध्य किया-जो उपनिवेशी शासन के अंतर्गत नीतिगत पुनर्विचार की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया का संकेतक बना। साथ ही, इसने भविष्य के किसान आंदोलनों को सामाजिक न्याय, उत्पादन नियंत्रण और कृषक आत्मनिर्भरता जैसे वैचारिक आयामों से भी सुसज्जित किया।

नील विद्रोह ने भारतीय किसान आंदोलनों की वैचारिक नींव को इस दृष्टि से सुदृढ़ किया कि इसने **"शोषण के विरुद्ध संगठित संघर्ष"** को एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में प्रतिपादित किया। यही चेतना आगे चलकर चंपारण सत्याग्रह (1917) और बारडोली आंदोलन (1928) जैसे आंदोलनों की वैचारिक प्रेरणा बनी। आज जब भारत समकालीन कृषि संकट-जैसे **बाज़ार का केंद्रीकरण, मूल्य असमानता** एवं **भूमि अधिकारों के क्षरण**-का सामना कर रहा है, तब नील विद्रोह की यह विरासत हमें स्मरण कराती है कि किसान केवल **'उत्पादक'** नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक भागीदारी के निर्णायक संवाहक भी हैं।[ii]

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

पाबना आंदोलन, 1873-76

बंगाल के पाबना ज़िले (वर्तमान बांग्लादेश) में यह आंदोलन ब्रिटिश शासन के संरक्षण में सक्रिय ज़मींदारों द्वारा की गई मनमानी लगान वृद्धि, जबरन वसूली और हिंसात्मक उत्पीड़न के विरुद्ध एक शांतिपूर्ण, किंतु प्रभावशाली प्रतिरोध के रूप में उभरा। इस आंदोलन में मुख्यतः कृषक वर्ग-जिनमें निर्धन बंगाली किसान, भूमिहीन मज़दूर तथा ग्रामीण काश्तकार सम्मिलित थे, किसान संगठित होकर **'रैयत सभाएँ'** स्थापित कीं। इन सभाओं ने याचिकाओं, जनसभाओं और विधिक उपायों के माध्यम से अपने अधिकारों की माँग को स्वर प्रदान किया। इस आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय बुद्धिजीवियों एवं अधिवक्ताओं ने किया, जिनमें **शिवनाथ शास्त्री, दिगंबर विश्वास** एवं **शिक्षित मध्यमवर्ग** के अन्य प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन्होंने किसानों को कानूनी सहायता प्रदान की, उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया और अहिंसात्मक प्रतिरोध की राह सुझाई। आंदोलन की प्रमुख उपलब्धि यह रही कि इसे भारत में अहिंसक, लोकतांत्रिक एवं विधिक प्रतिरोध की प्रारंभिक मिसालों में गिना जाता है। इसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार को 1877 में एक **'रैयतवाड़ी आयोग'** की स्थापना करनी पड़ी, जिसने आगे चलकर **बंगाल टेनेंसी एक्ट, 1885** के निर्माण की नींव रखी। पाबना आंदोलन ने न केवल औपनिवेशिक सत्ता की दमनकारी कृषि-नीति को चुनौती दी, बल्कि संगठित प्रतिरोध की एक वैचारिक दृष्टि भी प्रस्तुत की। इस आंदोलन ने आगामी कृषक आंदोलनों को यह शिक्षा दी कि विधिक और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के माध्यम से भी व्यापक सामाजिक परिवर्तन संभव है-यदि प्रतिरोध संगठित, नैतिक और रणनीतिक हो।

दक्कन दंगे, 1875

1875 की गर्मियों में महाराष्ट्र के पुणे और अहमदनगर ज़िलों के आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में एक व्यापक और तीव्र किसान विद्रोह उभर कर सामने आया, जिसे **"दक्कन दंगे"** के नाम से जाना जाता है। यह आंदोलन कोई आकस्मिक विस्फोट नहीं था, बल्कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन की शोषणकारी कर-प्रणाली, निरंतर कृषि संकट, और साहूकारों द्वारा बढ़ते आर्थिक उत्पीड़न के सम्मिलित परिणामस्वरूप विकसित हुआ। 1870 के दशक में महाराष्ट्र क्षेत्र में लगातार सूखा पड़ा और खेती की उपज में भारी गिरावट आई, लेकिन इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद औपनिवेशिक शासन लगान वसूली में किसी प्रकार की ढील देने को तैयार नहीं था। फलतः ग्रामीण कृषक समुदायों की साहूकारों पर निर्भरता अत्यधिक बढ़ गई और किसान कर्ज़ के दुष्चक्र में फँसते चले गए। इस आर्थिक दमन की प्रतिक्रिया में, मराठा कृषकों और निम्नवर्गीय ग्रामीण समुदायों ने उन स्थानीय ब्राह्मण और बनिया साहूकारों के विरुद्ध संगठित विद्रोह प्रारंभ किया, जिन्होंने ऊँचे ब्याज दरों पर ऋण देकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर रखा था। यह आंदोलन किसी स्पष्ट या औपचारिक नेतृत्व से रहित था, लेकिन इसका सामाजिक आक्रोश तीव्र और सशक्त था। आंदोलनकारियों ने समूहों में संगठित होकर साहूकारों के घरों, दुकानों और लेन-देन अभिलेखों को लक्षित किया-ऋणपत्र, गिरवी दस्तावेज़ और खाता-बही को सार्वजनिक रूप से जलाया गया। इस क्रिया के पीछे यह भावना थी कि जब तक कर्ज के साक्ष्य ही समाप्त कर दिए जाएंगे, तब तक साहूकारों का दमनात्मक शिकंजा ढीला पड़ेगा।

ब्रिटिश प्रशासन ने इन घटनाओं को **"कानून-व्यवस्था की समस्या"** मानते हुए दमन की नीति अपनाई। सेना और पुलिस बल के माध्यम से दंगे कुचले गए, सैकड़ों किसानों को गिरफ़्तार किया गया, और सैन्य न्यायालयों में कठोर सजाएँ सुनाई गईं। यद्यपि यह आंदोलन हिंसात्मक था, किंतु इसने औपनिवेशिक सरकार को पहली बार ग्रामीण कृषि अर्थव्यवस्था की गंभीर विसंगतियों और किसानों की व्यथा की सामाजिक-आर्थिक गहराई का बोध कराया। परिणामस्वरूप, 1879 में ब्रिटिश सरकार को **"दक्कन एग्रीकल्चरल डेब्ट रिलीफ़ एक्ट"** (Deccan Agriculturists Relief Act) लागू करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस क़ानून के अंतर्गत किसानों को कुछ ऋण राहत, ऋण अदायगी में सरलीकरण और साहूकारों पर सीमित नियमन सुनिश्चित किए गए, जो आगे चलकर भारत में कृषि-ऋण नीति निर्माण की नींव बने। दक्कन दंगे भारतीय किसान आंदोलनों के इतिहास में एक वैचारिक मील का पत्थर सिद्ध हुए। इसने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि शासन और न्याय व्यवस्था किसानों की वास्तविक समस्याओं को अनसुना करती है, तो प्रतिरोध का मार्ग हिंसक हो सकता है। यह संघर्ष केवल एक आर्थिक असंतोष नहीं था, बल्कि इसने उपनिवेशवाद, ग्रामीण संरचना और पूंजीवादी शोषण के बीच अंतर्निहित तनाव को उजागर किया। यह आंदोलन एक प्रकार से भारत में कृषि ऋण-नीति के सामाजिक विमर्श का प्रारंभिक सूत्रपात करता है, जिसमें किसान केवल याचक नहीं, अपितु संगठित चेतना के साथ प्रतिरोध करने वाले राजनीतिक इकाई के रूप में सामने आते हैं।[iii]

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

चंपारण सत्याग्रह, 1917

1917 में महात्मा गांधी द्वारा बिहार के चंपारण क्षेत्र में नेतृत्व किया गया आंदोलन केवल नील की खेती से संबंधित अन्यायपूर्ण अनुबंधों के विरोध का संघर्ष नहीं था, बल्कि यह भारतीय किसान-राजनीति-नैतिकता त्रिकोण में एक ऐतिहासिक हस्तक्षेप सिद्ध हुआ। चंपारण के कृषकों को ज़मींदारों और ब्रिटिश नील उत्पादक कंपनियों द्वारा **तीनकठिया** प्रणाली के तहत जबरन नील की खेती के लिए बाध्य किया गया था, जिससे उनकी खाद्य स्वायत्तता, सामाजिक गरिमा और जीवनाधिकारों पर गहरा संकट उत्पन्न हुआ। गांधीजी ने इस शोषणकारी संरचना के विरुद्ध सत्याग्रह की रणनीति को अपनाया - अर्थात् अहिंसक प्रतिरोध, जन संवाद, ग्राम्य चेतना का जागरण और नैतिक वैधता पर आधारित विरोध। चंपारण आंदोलन वह पहला अवसर था जब यह सिद्ध हुआ कि किसान केवल आर्थिक रूप से शोषित नहीं, अपितु एक सचेत, राजनैतिक-सामाजिक एजेंसी रखने वाला नागरिक भी है। इसी आंदोलन में पहली बार 'विकल्पमूलक प्रतिरोध' की अवधारणा भी उभरी - जिसमें ग्राम्य अदालतें, शिक्षा केंद्रों तथा स्वास्थ्य सेवाओं की स्थापना के माध्यम से प्रतिरोध को पुनर्रचना से जोड़ा गया। आंदोलन के प्रतिफलस्वरूप **1918 में चंपारण एग्रीमेंट** अस्तित्व में आया, जिसने किसानों की प्रमुख माँगो को मान्यता दी और तीनकठिया प्रथा के क्रमिक उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त किया। हालांकि, इसका प्रभाव इससे भी व्यापक था - इसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीण भारत की आत्मा से जोड़ा और गांधी को एक जन-नेता के रूप में स्थापित किया। यह संघर्ष भारतीय किसान आंदोलनों के इतिहास में एक वैचारिक संक्रमण का बिंदु बन गया, जहाँ प्रतिरोध केवल असंतोष का प्रदर्शन नहीं रहा, बल्कि वह नैतिक संवाद, सामुदायिक शिक्षा और सृजनात्मक संगठन का माध्यम बन गया। यह आंदोलन आज भी उस बुनियादी प्रश्न को उद्घाटित करता है - क्या किसान संघर्ष मात्र नीतिगत परिवर्तन की माँग तक सीमित हैं, या वे व्यापक सामाजिक और नैतिक पुनर्रचना की आकांक्षा भी बन सकते हैं?[iv]

खेड़ा सत्याग्रह, 1918

खेड़ा ज़िला (वर्तमान गुजरात) वर्ष 1917-18 में भीषण सूखे की चपेट में था। फ़सलें नष्ट हो चुकी थीं और जनजीवन गहरे संकट में था। किंतु ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन ने लगान में छूट देने से स्पष्टतः इनकार कर दिया। यह निर्णय उन किसानों के लिए अत्यंत असहनीय था, जो प्राकृतिक आपदा और औपनिवेशिक शोषण के दोहरे दबाव से जूझ रहे थे। महात्मा गांधी ने इस सत्याग्रह का नेतृत्व किया, और उन्हें गुजरात के प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता सरदार वल्लभभाई पटेल तथा रविशंकर महाराज जैसे समर्पित सहयोगियों का समर्थन प्राप्त हुआ। यह आंदोलन गांधी के **सत्याग्रह सिद्धांत** की पहली प्रयोगशाला के रूप में सामने आया, जिसमें उन्होंने स्थानीय नेतृत्व, अहिंसक प्रतिरोध, तथा नैतिक दबाव की रणनीति को व्यावहारिक रूप में परखा। खेड़ा के किसानों ने सामूहिक रूप से संगठित होकर लगान न देने का निर्णय लिया। यह आंदोलन पूर्णतः अहिंसक, नैतिक, और विधिक ढांचे के भीतर संचालित हुआ। गाँवों में जनसभाएँ आयोजित की गईं, किसानों को उनके कानूनी अधिकारों के प्रति शिक्षित किया गया, और स्थानीय नेतृत्व को सशक्त किया गया। अंततः, ब्रिटिश सरकार को लगान वसूली स्थगित करनी पड़ी, तथा जो किसान भुगतान में अक्षम थे, उन्हें वित्तीय राहत प्रदान की गई। इस आंदोलन ने यह प्रमाणित किया कि यदि गैर-हिंसात्मक प्रतिरोध संगठित और नैतिक रूप से सशक्त हो, तो औपनिवेशिक सत्ता को भी झुकने के लिए विवश किया जा सकता है।

खेड़ा सत्याग्रह ने न केवल किसानों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया, बल्कि ग्रामीण भारत में नैतिक प्रतिरोध की संस्कृति को भी स्थापित किया। यह आंदोलन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ग्रामीण जनाधार के विस्तार में निर्णायक सिद्ध हुआ और नेतृत्व में स्थानीय सहभागिता को केंद्रीय स्थान दिया। इसने स्वतंत्र भारत में नीतिगत नागरिक भागीदारी और लोकतांत्रिक संवाद की आधारशिला रखी। खेड़ा सत्याग्रह आज के समकालीन कृषि संकट की पृष्ठभूमि में एक प्रेरणास्रोत चेतना के रूप में सामने आता है। यह हमें स्मरण कराता है कि संकट की घड़ी में संगठित प्रतिरोध, स्थानीय नेतृत्व, और विधिक अधिकारों की समझ किसानों को सशक्त बना सकती है। आज जब किसान न्यूनतम समर्थन मूल्य, कर्ज़ राहत, जलवायु संकट, तथा बाज़ार शोषण जैसी चुनौतियों का सामना कर रहे हैं, तब गांधी-पटेल द्वारा स्थापित यह अनुभव यह दर्शाता है कि संवैधानिक ढाँचे के भीतर रहते हुए भी नीति परिवर्तन की प्रभावशाली लड़ाई लड़ी जा सकती है।

बारदोली सत्याग्रह, 1928

सन 1928 में गुजरात के सूरत ज़िले के बारडोली तालुका में ब्रिटिश सरकार द्वारा **22% भू-राजस्व वृद्धि** की घोषणा की गई, जबकि क्षेत्र अकाल, महामारी और कृषि संकट से जूझ रहा था। इस मनमानी वृद्धि ने कृषकों के लिए जीविका चलाना भी कठिन कर दिया। जब प्रशासन ने किसानों की अपील को अस्वीकार किया, तब किसानों ने संगठित प्रतिरोध का मार्ग अपनाया। इस आंदोलन का

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

नेतृत्व सरदार वल्लभभाई पटेल ने किया, जिन्होंने बारडोली को सत्याग्रह की प्रयोगभूमि बनाया और स्थानीय नेतृत्व, ग्रामीण संगठन और विधिक जागरूकता को आंदोलन का आधार बनाया। किसानों से अपील की गई कि वे बढ़ा हुआ कर न चुकाएँ और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सामूहिक अवज्ञा करें। प्रशासन ने दमन का रास्ता अपनाया-कृषकों की ज़मीन, मवेशी और घर नीलाम किए गए; अनेक परिवारों को गाँव छोड़ना पड़ा। परंतु आंदोलन पूरी तरह से अहिंसक और अनुशासित रहा। सरदार पटेल ने ग्राम समितियाँ गठित कीं, कानूनी सहायता प्रदान की गई, और सत्याग्रहियों को भावनात्मक और नैतिक रूप से दृढ़ बनाए रखा। देशभर से समर्थन और आर्थिक सहायता भी पहुँची। यह आंदोलन सामाजिक समरसता, नेतृत्व की विश्वसनीयता और नैतिक प्रतिरोध की मिसाल बन गया। अंततः बॉम्बे सरकार को एक जांच आयोग नियुक्त करना पड़ा, जिसकी सिफारिश पर कर वृद्धि को रद्द कर दिया गया और जब्त की गई संपत्तियाँ किसानों को लौटा दी गईं। बारडोली आंदोलन न केवल किसान प्रतिरोध का एक सफल उदाहरण बना, बल्कि इसने सरदार पटेल को **सरदार** की उपाधि भी दिलाई, जो उनके नेतृत्व कौशल की जनस्वीकृति थी। इस आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को ग्रामीण भारत में गहराई तक पहुँचने की रणनीति सिखाई, और यह भी दर्शाया कि विधिक चेतना, नैतिक अनुशासन और स्थानीय संगठन की शक्ति औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध एक प्रभावशाली प्रतिरोध खड़ा कर सकती है। आज के संदर्भ में, जब कृषि संकट और किसान असंतोष पुनः उभर रहा है, बारडोली सत्याग्रह से यह प्रेरणा ली जा सकती है कि किसान अधिकारों की रक्षा हेतु सामूहिक चेतना, संगठन और अहिंसक संघर्ष की परंपरा कितनी प्रभावशाली हो सकती है।[v]

स्वतंत्रता संग्राम में किसानों की भूमिका

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कृषक समुदाय की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं बहुआयामी रही है। भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा कृषकों से निर्मित है, जिन्होंने न केवल आर्थिक स्तर पर, बल्कि राजनीतिक चेतना के विस्तार में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। औपनिवेशिक शासन की दमनकारी नीतियों एवं शोषणकारी व्यवस्थाओं के विरुद्ध किसानों का प्रतिरोध स्वतंत्रता आंदोलन की आधारशिला बन गया, जिसने इस संघर्ष को व्यापक जनसमर्थन प्रदान किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में किसानों ने अत्यधिक करारोपण, भूमि अधिग्रहण तथा महाजनों के आर्थिक शोषण के विरुद्ध अनेक स्थानीय एवं क्षेत्रीय आंदोलनों का संचालन किया। प्रारंभ में ये आंदोलन मुख्यतः आर्थिक कारणों से प्रेरित थे, किंतु समय के साथ इन आंदोलनों ने राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। महात्मा गांधी ने ग्रामीण भारत के कृषकों को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ने हेतु विशेष प्रयास किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत की स्वतंत्रता तभी संभव है जब ग्राम्य भारत की शक्ति इस संघर्ष का अभिन्न अंग बने। गांधीजी ने चंपारण सत्याग्रह (1917), खेड़ा सत्याग्रह (1918), तथा बारडोली सत्याग्रह (1928) जैसे आंदोलनों के माध्यम से कृषकों में राजनीतिक चेतना का संचार किया और अहिंसात्मक प्रतिरोध की रणनीतियों से उन्हें सशक्त किया।[vi]

1920 एवं 1930 के दशकों में असहयोग आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन में किसानों ने सक्रिय सहभागिता की। उन्होंने करों का बहिष्कार किया, विदेशी वस्त्रों का परित्याग किया और सत्याग्रह के माध्यम से उपनिवेशी शासन की नीतियों का विरोध किया। इस दौरान 1929 में **"राष्ट्रीय कृषक कांग्रेस"** की स्थापना हुई, जिसने कृषकों के अधिकारों एवं समस्याओं के समाधान हेतु एक संगठित मंच प्रदान किया। इस संगठन ने किसानों के आंदोलनों को राष्ट्रीय स्तर पर समन्वित कर उनकी भूमिका को केंद्रीय महत्व प्रदान किया। भारत के विभिन्न क्षेत्रों-तेलंगाना, बिहार, मध्य प्रदेश एवं पंजाब में कृषकों ने भिन्न-भिन्न स्वरूपों में आंदोलन चलाए। इन आंदोलनों ने न केवल स्थानीय शोषण का प्रतिकार किया, बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष को भी सामाजिक एवं आर्थिक आधार प्रदान किया।[vii]

इस कालखंड में कई कृषक नेता उभरे जिन्होंने क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर किसानों की आवाज़ को बुलंद किया। सरदार वल्लभभाई पटेल, स्वामी दयानंद सरस्वती, रघुनाथ मंडलकर तथा स्वराज पार्टी के नेताओं ने किसानों के अधिकारों के लिए संघर्षरत रहते हुए राजनीतिक नेतृत्व का दायित्व भी निभाया। अतः स्वतंत्रता संग्राम में कृषकों की भूमिका केवल विरोध या आंदोलन तक सीमित नहीं रही, बल्कि उन्होंने रणनीतिक नेतृत्व, संगठन निर्माण और व्यापक जनसंघर्ष को दिशा प्रदान की। उनके इस योगदान ने स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक नींव को सुदृढ़ करने के साथ-साथ कृषि नीतियों के विकास हेतु भी मार्ग प्रशस्त किया।

स्वतंत्रता के बाद के प्रमुख कृषक आंदोलन

तेलंगाना किसान आंदोलन 1946-1951

तेलंगाना सशस्त्र किसान आंदोलन (1946-1951) भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण में घटित एक ऐसा जनसंघर्ष था, जिसने न केवल औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर मुखर किया, बल्कि स्वतंत्र भारत की भूमि सुधार तथा सामाजिक न्याय संबंधी नीतियों को आकार देने में भी निर्णायक भूमिका निभाई। यह आंदोलन हैदराबाद रियासत के तेलंगाना क्षेत्र में उस समय प्रारंभ हुआ, जब निजाम शासन और उसके संरक्षण में फल-फूल रही ज़मींदारी व्यवस्था ने ग्रामीण समाज, विशेषतः किसानों के जीवन को

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

नारकीय बना दिया था। ज़मींदारों द्वारा जबरन बेगारी (मुफ़्त श्रम) कराना, अत्यधिक लगान वसूलना, महिलाओं पर यौन उत्पीड़न तथा दलित समुदायों को सामाजिक-आर्थिक रूप से वंचित रखना जैसी अमानवीय प्रथाएँ वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में गहराई से समाहित थीं। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत उत्पन्न खाद्य संकट और महँगाई ने इस असंतोष को और तीव्र बना दिया। इस आंदोलन की वैचारिक तथा सांगठनिक नींव भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (CPI) द्वारा रखी गई, जिसने गरीब किसानों, खेत मज़दूरों, दलितों और भूमिहीन वर्गों को एकजुट किया। नेतृत्व में रेड्डी रामचंद्र रेड्डी, बोइना रामैया, चक्रपाणि रेड्डी और बी. पी. सुंदरैया जैसे प्रभावशाली किसान नेता तथा मार्क्सवादी कार्यकर्ता सक्रिय थे। इस आंदोलन की विशेषता यह थी कि यह संघर्ष केवल नारों या रैलियों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह एक वास्तविक भूमि-आधारित क्रांति में परिवर्तित हो गया। किसानों ने ज़मींदारों की भूमि पर कब्ज़ा कर उसका पुनर्वितरण किया, बेगारी प्रथा को बलपूर्वक समाप्त किया, और निजाम की पुलिस एवं निजाम की निजी सेना के विरुद्ध संगठित गुरिल्ला प्रतिरोध किया। इस आंदोलन के दौरान ग्राम गणराज्यों की स्थापना एक अद्वितीय सामाजिक प्रयोग के रूप में उभरी। इन स्थानीय स्वशासी इकाइयों में भूमि का सामूहिक प्रबंधन, सामाजिक न्याय की व्यावहारिक अभिव्यक्ति, तथा दलितों एवं महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की गई। यह संघर्ष एक प्रकार से "नीचे से ऊपर" बदलाव की एक वैकल्पिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जो भारतीय कृषि व्यवस्था की पारंपरिक संरचना को चुनौती देता है।

1948 में भारत सरकार द्वारा **ऑपरेशन पोलो** के माध्यम से हैदराबाद रियासत का भारत में विलय कराए जाने के पश्चात निजाम शासन का अंत तो हुआ, परंतु शीघ्र ही इस आंदोलन को **राज्यविरोधी कम्युनिस्ट विद्रोह** घोषित कर, भारतीय सेना और पुलिस ने व्यापक सैन्य कार्रवाई की। इस दमनात्मक अभियान में हज़ारों आंदोलनकारी या तो मारे गए, कारावास में डाल दिए गए, अथवा भूमिगत जीवन जीने को विवश हुए। 1951 तक यह आंदोलन औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया। यद्यपि यह संघर्ष सैन्य बलों के समक्ष स्थायी रूप से नहीं टिक सका, तथापि इसका प्रभाव गहन और दूरगामी रहा। इस आंदोलन के दौरान लगभग 3000 गाँवों में स्वशासी संरचनाएँ स्थापित हुईं, 10 लाख एकड़ भूमि का पुनर्वितरण किया गया, बेगारी प्रथा का पूर्णतः अंत हुआ और दलितों तथा महिलाओं की सामाजिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार आया। इसने भूमि के प्रश्न को केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, गरिमा और लोकतांत्रिक अधिकारों से जोड़कर देखा। इस आंदोलन के प्रभावस्वरूप तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को ज़मींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार और पंचायती शासन व्यवस्था की दिशा में ठोस नीतिगत पहल करनी पड़ी। यह आंदोलन, समान रूप से, भविष्य में भारत में भूमि सुधार की असफलताओं और संरचनात्मक विसंगतियों पर प्रश्नचिह्न बनकर भी उभरा। वर्तमान भारत में, जब भूमि अधिग्रहण, कॉर्पोरेट खेती, आदिवासी विस्थापन, दलितों पर हिंसा और किसान आत्महत्याओं जैसे प्रश्न पुनः सतह पर हैं, तब तेलंगाना आंदोलन की चेतना यह स्पष्ट करती है कि सामाजिक परिवर्तन केवल नीतिगत हस्तक्षेपों से संभव नहीं, बल्कि व्यापक संरचनात्मक प्रतिरोध, सामुदायिक सशक्तिकरण और स्थानीय नवाचार से ही संभव है। यह आंदोलन आज भी एक ऐसी वैकल्पिक परिकल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें भूमि, श्रम और न्याय का सामूहिक स्वामित्व लोकतांत्रिक भविष्य के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है।[viii]

भूदान आंदोलन 1951

भूदान आंदोलन का उद्भव स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ ही वर्षों पश्चात् उस समय हुआ, जब भारत सामाजिक-आर्थिक विषमता और भूमि-संबंधी असमानता के गंभीर संकट से जूझ रहा था। आंध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र में उग्र किसान आंदोलनों और सशस्त्र संघर्षों की पृष्ठभूमि में, आचार्य विनोबा भावे ने एक वैकल्पिक, अहिंसात्मक मार्ग की ओर समाज को प्रेरित किया। उनका उद्देश्य था-**"स्वैच्छिक भूमि दान"** के माध्यम से भूमिहीनों को भूमि स्वामित्व का अधिकार प्रदान करना, जिससे सामाजिक समरसता और आर्थिक आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त हो सके। आचार्य विनोबा भावे इस आंदोलन के प्रमुख प्रेरक तथा नैतिक आधार स्तंभ रहे। गांधीवादी दर्शन से अनुप्राणित वे गांव-गांव पदयात्रा करते हुए ज़मींदारों और भूस्वामियों से स्वैच्छिक भूमि दान की अपील करते रहे। उनके साथ हज़ारों कार्यकर्ता, सामाजिक सुधारक एवं ग्रामीण युवाओं ने जुड़कर इस अभियान को एक जनांदोलन में परिवर्तित कर दिया। इस आंदोलन के अंतर्गत 1951 से 1970 के दशक तक लगभग 50 लाख एकड़ भूमि दानस्वरूप प्राप्त हुई। यद्यपि व्यवहारिक स्तर पर भूमि के वितरण में अनेक बाधाएँ थीं-जैसे कई जमीनें अनुपयोगी, विवादग्रस्त अथवा अवैध थीं-फिर भी यह आंदोलन भारत के ग्रामीण समाज में एक नैतिक संवाद और भूमि असमानता के प्रश्न पर राष्ट्रव्यापी चेतना का माध्यम बना। भूदान आंदोलन, भारतीय किसान आंदोलनों की वैचारिक परंपरा में एक विशिष्ट अध्याय के रूप में सामने आया, क्योंकि इसने हिंसा, विद्रोह अथवा राजनीतिक दबाव के बजाय नैतिक आग्रह और अंतरात्मा की पुकार को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया। यह इस विचार का प्रतीक बना कि सामाजिक न्याय की स्थापना केवल विधायी या क्रांतिकारी उपायों से नहीं, बल्कि विचारधारात्मक जागरण और सामूहिक नैतिक चेतना के माध्यम से भी संभव है।[ix]

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

भूमि सुधारों की असफलता, कॉर्पोरेट भूमि अधिग्रहण की बढ़ती प्रवृत्ति और आज के भूमिहीन मजदूरों की विषम स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए, भूदान आंदोलन की चेतना आज पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक प्रतीत होती है। यह आंदोलन उस नैतिक विकल्प की याद दिलाता है, जो सामाजिक अन्याय के प्रतिकार हेतु वैधानिक या प्रतिरोधात्मक संघर्ष के बिना भी चेतना का संचार कर सकता है। भूदान आंदोलन ने भारत की सामाजिक संरचना में भूमि आधारित समानता की बहस को मानवीय और नैतिक धरातल पर स्थापित किया। इसके अनुभव लोकतंत्र में जनसहभागिता, विकेंद्रीकरण और नैतिक प्रेरणा जैसे पहलुओं को सुदृढ़ करते हैं-जो समकालीन कृषि संकट की जटिलताओं के मध्य भविष्य की दिशा निर्धारण में सहायक हो सकते हैं।

तीन कृषि कानून आंदोलन (2020-2021)

सितंबर 2020 में भारत सरकार ने तीन नए कृषि कानून-कृषक उपज व्यापार और वाणिज्य (संवर्धन और सुविधा) अधिनियम, कृषक (सशक्तिकरण और संरक्षण) कीमत आश्वासन एवं कृषि सेवाओं पर करार अधिनियम, तथा आवश्यक वस्तु (संशोधन) अधिनियम-पारित किए। सरकार का मानना था कि ये कानून किसानों को मंडियों के बाहर भी उपज बेचने की स्वतंत्रता प्रदान करेंगे, निजी निवेश को आकर्षित करेंगे और कृषि विपणन को आधुनिक बनाएंगे। दूसरी ओर, किसान संगठनों ने इन कानूनों को न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) और स्थापित मंडी व्यवस्था की गारंटी पर प्रत्यक्ष खतरे के रूप में देखा। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों के किसान संगठनों को आशंका थी कि निजी व्यापारियों के प्रभुत्व से एमएसपी व्यवस्था कमजोर पड़ जाएगी, सरकारी खरीद में कमी आएगी और अंततः उनकी आजीविका संकटग्रस्त हो जाएगी। फलस्वरूप, आंदोलन का केंद्रीय उद्देश्य तीनों कानूनों की पूर्ण वापसी और एमएसपी को कानूनी गारंटी प्रदान करना बन गया। भारत में कृषि सुधारों का इतिहास इस आंदोलन की पृष्ठभूमि को और स्पष्ट करता है। हरित क्रांति के दौर (1960-70 के दशक) में कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, किंतु साथ ही एमएसपी और एपीएमसी मंडियों की स्थापना इस उद्देश्य से की गई कि किसानों को उनकी उपज के लिए न्यूनतम सुनिश्चित मूल्य मिले और निजी व्यापारियों के शोषण से उनकी रक्षा हो सके। 1991 में उदारीकरण के बाद कृषि क्षेत्र में बाजार-आधारित सुधारों की चर्चा तेज हुई, किंतु अधिकांश राज्यों ने पारंपरिक मंडी व्यवस्था को बनाए रखा। 2003 में केंद्र सरकार ने "मॉडल एपीएमसी अधिनियम" लागू किया, जिससे निजी मंडियों और प्रत्यक्ष खरीद को बढ़ावा मिल सके, परंतु राज्यों ने इसे आंशिक रूप से ही अपनाया। 2017–18 में मॉडल अनुबंध खेती अधिनियम और मॉडल कृषि विपणन अधिनियम प्रस्तुत किए गए। 2020 के तीन कृषि कानून इन्हीं सुधारवादी प्रयासों की अगली कड़ी थे, किंतु इन्हें व्यापक सार्वजनिक विमर्श और राज्यों की पूर्व सहमति के बिना संसद में पारित किया गया, जिससे व्यापक विरोध और राजनीतिक टकराव उत्पन्न हुआ।[x]

संवैधानिक दृष्टि से, भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची के अंतर्गत कृषि, भूमि और मंडी व्यवस्था जैसे विषय राज्य सूची में आते हैं, जबकि अंतरराज्यीय वाणिज्य केंद्र सूची में और अनुबंध समवर्ती सूची में सम्मिलित हैं। किसानों का तर्क था कि कृषि और मंडियों से संबंधित कानून बनाना राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आता है, और केंद्र द्वारा इस स्तर पर हस्तक्षेप संघीय संतुलन का उल्लंघन है। अनुच्छेद 19(1)(g) के तहत प्रत्येक व्यक्ति को पेशा, व्यापार और व्यवसाय की स्वतंत्रता प्राप्त है; सरकार का कहना था कि ये कानून किसानों को अधिक विकल्प और व्यापक बाजार तक पहुँच प्रदान करते हैं। किंतु किसान संगठनों का मत था कि निजी कंपनियों के बढ़ते प्रभाव के कारण यह स्वतंत्रता व्यावहारिक रूप से असमान प्रतिस्पर्धा में बदल जाएगी, जिससे किसान अपनी उपज को कम दर पर बेचने के लिए विवश होंगे और उनकी आजीविका प्रभावित होगी। सुप्रीम कोर्ट द्वारा अनुच्छेद 21 की व्याख्या में जीवन के अधिकार में "आजीविका का अधिकार" शामिल किया गया है, जैसा कि ओल्गा टेलिस बनाम बॉम्बे म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन (1985) में कहा गया। किसानों का मानना था कि इन कानूनों से उनकी आर्थिक सुरक्षा संकट में पड़ जाएगी, जिससे उनका जीवन स्तर और अस्तित्व प्रभावित होगा। इसके अतिरिक्त, सुप्रीम कोर्ट ने एस.आर. बोंमई बनाम भारत संघ (1994) में संघीय ढाँचे को संविधान का मूलभूत तत्व माना है, और इस सिद्धांत के अनुसार राज्यों की स्वायत्तता का उल्लंघन नीतिगत सुधारों की वैधता को कमजोर करता है।

नीतिगत दृष्टि से, कृषि सुधार तभी स्थायी और प्रभावी बन सकते हैं जब उन्हें सहमति-आधारित संघीय ढाँचे में लागू किया जाए। इस संदर्भ में एक **"राष्ट्रीय कृषि परिषद"** का गठन किया जा सकता है, जिसमें केंद्र, सभी राज्य सरकारें और किसान संगठन समान प्रतिनिधित्व रखें, और जिसकी सिफारिशें बाध्यकारी हों। मौजूदा एपीएमसी मंडियों का आधुनिकीकरण आवश्यक है, जिसमें पारदर्शी ई-नीलामी प्रणाली, बेहतर भंडारण एवं परिवहन अवसंरचना, और मंडी कर की तर्कसंगत संरचना शामिल हो। डिजिटल विपणन मंच जैसे **ई-नाम** को सुदृढ़ किया जाना चाहिए, जिससे किसान सीधे खरीदारों से जुड़ सकें, साथ ही किसान उत्पादक संगठन (एफपीओ) और सहकारी समितियों की भूमिका को भी मजबूत किया जाए। अनुबंध खेती से उत्पन्न विवादों के समाधान हेतु किसानों को न्यायालय में

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

सीधी पहुँच उपलब्ध होनी चाहिए, और ग्रामीण स्तर पर कृषि न्यायाधिकरण स्थापित किए जाने चाहिए, ताकि उन्हें निष्पक्ष और त्वरित न्याय मिल सके।

एमएसपी की कानूनी गारंटी के लिए "न्यूनतम समर्थन मूल्य गारंटी अधिनियम" का प्रारूप तैयार किया जा सकता है, जिसमें एमएसपी को उस न्यूनतम मूल्य के रूप में परिभाषित किया जाए, जिसे केंद्र सरकार अधिसूचित करे और जिसके अंतर्गत आने वाली फसलों की किसी भी मात्रा को खरीदना प्रत्येक खरीदार के लिए अनिवार्य हो। इस अधिनियम में कृषि लागत एवं मूल्य आयोग (सीएसीपी) की सिफारिशों को एमएसपी निर्धारण का आधार बनाया जाए, एमएसपी से कम कीमत पर खरीद पर दंड का प्रावधान हो, और भुगतान अधिकतम सात दिनों के भीतर किया जाए। प्रारंभिक चरण में मौजूदा 23 एमएसपी-आवृत फसलों को इसमें सम्मिलित किया जा सकता है, प्रत्येक राज्य में एमएसपी निगरानी समिति गठित की जा सकती है, और उल्लंघन की स्थिति में जुर्माना एवं लाइसेंस निलंबन जैसे दंडात्मक प्रावधान लागू किए जा सकते हैं। केंद्र-राज्य संबंधों के दृष्टिकोण से, कृषि सुधारों में राज्यों की सक्रिय भागीदारी अनिवार्य है। राज्यों को अपनी कृषि संबंधी प्राथमिकताओं और स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप सुधार लागू करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जीएसटी परिषद की तर्ज पर एक "कृषि परिषद" का गठन किया जा सकता है, जिसमें सभी राज्यों के कृषि मंत्री, केंद्र सरकार और किसान संगठनों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों, और जो कृषि नीतियों पर सामूहिक निर्णय ले। कृषि क्षेत्र में केंद्र द्वारा दी जाने वाली वित्तीय और तकनीकी सहायता का वितरण राज्यों के माध्यम से विकेंद्रीकृत रूप में किया जाना चाहिए, ताकि योजनाएँ स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप लागू हो सकें।[xi]

तीन कृषि कानून आंदोलन ने यह सिद्ध कर दिया कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में संगठित और दीर्घकालिक जनआंदोलन नीतिगत निर्णयों को प्रभावित कर सकते हैं। इसने यह भी दर्शाया कि यदि सुधार संवाद, सहमति और संघीय संतुलन के बिना लागू किए जाए, तो वे न केवल असफल हो सकते हैं, बल्कि व्यापक सामाजिक असंतोष और राजनीतिक अस्थिरता को भी जन्म दे सकते हैं। भविष्य के कृषि सुधारों में किसानों की आर्थिक सुरक्षा को प्राथमिकता देते हुए, व्यापक सार्वजनिक विमर्श, राज्यों एवं किसान संगठनों की सहमति, तथा चरणबद्ध और संघीय संतुलन के अनुरूप क्रियान्वयन ही टिकाऊ, न्यायसंगत और लोकतांत्रिक होगा।

आधुनिक भारत में कृषक आंदोलनों का स्वरूप

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात, भारत में कृषक आंदोलनों ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टियों से निरंतर विकास किया है। समकालीन भारत में ये आंदोलन केवल पारंपरिक मुद्दों-जैसे भूमि स्वामित्व, कर व्यवस्था और कृषि ऋण-तक सीमित नहीं हैं; अपितु अब ये आंदोलन सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण, तकनीकी नवाचार, वैश्वीकरण के प्रभाव, तथा कृषि के औद्योगीकरण के विरुद्ध भी सक्रिय रूप में उभरकर सामने आए हैं। आधुनिक भारत में कृषक आंदोलन पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक संगठित, समन्वित तथा विचारधारात्मक विविधता से परिपूर्ण हो चुके हैं। वर्तमान में किसान न केवल स्थानीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर, अपितु राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी अपने अधिकारों के प्रति सजगता से आवाज़ उठा रहे हैं। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म, इंटरनेट तथा सोशल मीडिया जैसे आधुनिक संप्रेषण माध्यमों के प्रभावी उपयोग के माध्यम से उन्होंने व्यापक जनसमर्थन अर्जित करने में सफलता प्राप्त की है। इसके अतिरिक्त, जाति, वर्ग तथा क्षेत्रीय असमानताओं के बावजूद कृषक संगठनों के भीतर एकता की भावना में उल्लेखनीय वृद्धि परिलक्षित होती है। वर्ष 2010 के उत्तरार्द्ध से लेकर 2020-21 के विवादास्पद कृषि कानूनों के विरुद्ध चले ऐतिहासिक आंदोलन तक, किसानों ने समकालीन कृषि नीतियों तथा निजीकरण प्रवृत्तियों के विरोध में संगठित और सशक्त प्रतिरोध दर्ज किया। सरकार द्वारा कृषि बाज़ारों के उदारीकरण, कॉरपोरेट निवेश को प्रोत्साहन देने तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की अनिश्चितता उत्पन्न करने वाले प्रावधानों के विरुद्ध यह दीर्घकालिक आंदोलन, आधुनिक किसानों की राजनीतिक चेतना तथा सांगठनिक क्षमता का सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करता है। आधुनिक कृषि संकटों का एक प्रमुख कारक किसानों पर निरंतर बढ़ता ऋण भार है। बीज, उर्वरक, कीटनाशक, सिंचाई सुविधा तथा कृषि उपकरणों की लागत में हुई तीव्र वृद्धि ने कृषकों पर वित्तीय दबाव को गंभीर रूप से बढ़ा दिया है। इस आर्थिक संकट की पृष्ठभूमि में, महाराष्ट्र, कर्नाटक, बिहार एवं उत्तर प्रदेश जैसे कृषि-प्रधान राज्यों में ऋण माफी, आर्थिक सहायता तथा लाभकारी मूल्य की सुनिश्चितता हेतु अनेक जनांदोलन उभरे हैं। साथ ही, जलवायु परिवर्तन, जल स्रोतों की कमी, मृदा अपरदन तथा रासायनिक कृषि पद्धतियों के दुष्परिणाम ने कृषकों की चिंता को और गहरा किया है। इन परिस्थितियों में जैविक खेती को बढ़ावा देना, जल संरक्षण की रणनीतियाँ अपनाना तथा पारंपरिक कृषि ज्ञान की पुनर्प्राप्ति के लिए आंदोलन भी सशक्त रूप से संचालित हो रहे हैं।[xii]

आधुनिक कृषक आंदोलन विविध सामाजिक, जातीय तथा वर्गीय पृष्ठभूमियों से प्रेरित हैं। दलित, आदिवासी तथा अन्य सामाजिक रूप से वंचित कृषक वर्गों ने भूमि स्वामित्व, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा संसाधनों तक न्यायसंगत पहुँच के लिए संगठित प्रयास

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

किए हैं। ये आंदोलन केवल सामाजिक न्याय की माँग नहीं करते, अपितु कृषि सुधारों की लोकतांत्रिक आवश्यकता को भी रेखांकित करते हैं। राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में भी कृषक आंदोलन निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं। कई किसान नेता परंपरागत राजनीतिक दलों में सम्मिलित हुए हैं अथवा स्वतंत्र किसान-हितैषी दलों की स्थापना कर सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर कार्यरत संगठनों-जैसे भारतीय किसान यूनियन (BKU) और अखिल भारतीय किसान सभा (AIKS) ने समकालीन मुद्दों पर आंदोलनों को संरचित एवं सशक्त रूप प्रदान किया है। उल्लेखनीय है कि आधुनिक कृषक आंदोलनों में महिलाओं तथा युवाओं की सहभागिता निरंतर बढ़ रही है। महिलाएं अब केवल सहायक भूमिका तक सीमित नहीं हैं, बल्कि नेतृत्व की अग्रिम पंक्ति में भी सक्रियता से भाग ले रही हैं। युवा किसान तकनीकी नवाचारों को अपनाकर कृषि में नवीन दिशा देने के साथ-साथ नीतिगत बदलावों के लिए भी मुखर हो रहे हैं। आधुनिक भारत में कृषक आंदोलन बहुआयामी, जटिल और व्यापक स्वरूप में विकसित हुए हैं। इनमें केवल आर्थिक हितों की ही नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, पर्यावरणीय संतुलन और राजनीतिक भागीदारी की भी सशक्त अभिव्यक्ति होती है। डिजिटल माध्यमों के सशक्त उपयोग, राजनीतिक जागरूकता तथा सांगठनिक समन्वय के बल पर आज के कृषक आंदोलन अधिक प्रभावशाली और दूरगामी बन चुके हैं। ये आंदोलन यह

सिद्ध करते हैं कि कृषि केवल एक आर्थिक क्रिया नहीं है, बल्कि यह भारत की सामाजिक-राजनीतिक संरचना का एक अभिन्न एवं निर्णायक स्तंभ है।

आगामी चुनौतियाँ और समाधान

भारत में किसान आंदोलनों और कृषि नीतियों के मध्य ऐतिहासिक रूप से एक घनिष्ठ संबंध रहा है, जिसके माध्यम से कृषक समुदाय ने अपने अधिकारों की मांग और कृषि सुधारों की आवश्यकता को निरंतर उजागर किया है। किंतु 21वीं शताब्दी में भारत का कृषि क्षेत्र अनेक जटिल, बहुआयामी और संरचनात्मक समस्याओं का सामना कर रहा है। इन चुनौतियों का समाधान केवल किसानों के जीवन-यापन की दृष्टि से ही आवश्यक नहीं है, बल्कि यह राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा, सामाजिक-आर्थिक स्थिरता तथा पर्यावरणीय संतुलन के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारत के जल संसाधनों पर कृषि क्षेत्र का अत्यधिक दबाव बना हुआ है। देश में उपलब्ध मीठे जल का लगभग 80 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, परंतु इसका वितरण असंतुलित और उपयोग अल्प-प्रभावी है। नीति आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार, यदि वर्तमान प्रवृत्तियाँ जारी रहीं तो वर्ष 2030 तक भारत के 21 में से 12 प्रमुख राज्य गंभीर जल संकट की चपेट में आ सकते हैं। इसके साथ ही भूजल स्तर में औसतन 0.5 मीटर प्रति वर्ष की दर से गिरावट हो रही है, जिससे सिंचाई हेतु जल की उपलब्धता निरंतर बाधित हो रही है।[xiii] अतिवृष्टि और अनावृष्टि जैसी चरम जलवायु स्थितियाँ इस संकट को और भी गहरा बना रही हैं। इस समस्या के समाधान हेतु जल-क्षमता आधारित फसल योजना को अपनाने तथा सूक्ष्म सिंचाई प्रणालियों, जैसे ड्रिप और स्प्रिंकलर, को तकनीकी प्रशिक्षण और सब्सिडी के माध्यम से प्रोत्साहन देना अत्यंत आवश्यक है।[xiv] कृषि में अत्यधिक रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के उपयोग ने न केवल मृदा की प्राकृतिक संरचना को क्षतिग्रस्त किया है, बल्कि मृदा की जैविक उपजाऊ शक्ति में भी उल्लेखनीय गिरावट आई है। शोधों के अनुसार, भारत की लगभग 70 प्रतिशत कृषि भूमि में कार्बनिक तत्वों की मात्रा 0.5 प्रतिशत से भी कम रह गई है, जबकि स्थायी कृषि के लिए यह न्यूनतम एक प्रतिशत होनी चाहिए। इससे दीर्घकालिक रूप में भूमि की निष्क्रियता की आशंका बढ़ जाती है, और साथ ही पर्यावरण प्रदूषण एवं मानव स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस परिप्रेक्ष्य में जैविक और प्राकृतिक खेती को बढ़ावा देना, न्यूनतम समर्थन मूल्य और विपणन सहायता के रूप में नीति-सहयोग देना, तथा मृदा स्वास्थ्य कार्ड योजना का पुनर्सक्रिय और सुदृढ़ क्रियान्वयन करना आवश्यक है। भूमि से जुड़े अधिकार भी किसानों की सुरक्षा और अस्तित्व के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरे हैं। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों से संबंधित किसानों के मध्य भूमि अधिकारों को लेकर विवाद लगातार बढ़ रहे हैं। ग्रामीण न्यायालयों में लंबित मामलों में लगभग 66 प्रतिशत मामले भूमि विवादों से संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त, औद्योगीकरण और तीव्र शहरीकरण के चलते भूमि अधिग्रहण की घटनाएँ तेजी से बढ़ रही हैं। भूमि अधिग्रहण अधिनियम (2013) में प्रस्तावित संशोधनों ने किसानों की आशंकाओं को और बढ़ा दिया है, जिससे आजीविका के नुकसान की स्थिति उत्पन्न हो रही है। इस संकट का समाधान सामुदायिक भूमि अधिकारों को कानूनी सुरक्षा प्रदान करने और अधिग्रहण प्रक्रिया में पूर्व-सहमति, पुनर्वास एवं आजीविका की गारंटी सुनिश्चित करने से ही संभव है।[xv]

कृषकों की समस्याओं को नीति-निर्माण के उच्च स्तर तक पहुँचाने के लिए उनके पास एक सशक्त और संगठित प्रतिनिधि स्वर की आवश्यकता है, जिसकी वर्तमान में कमी दिखाई देती है। तीन कृषि कानूनों के विरुद्ध किसानों द्वारा किए गए आंदोलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि कृषक समुदाय की नीति-निर्माण में भागीदारी अत्यंत सीमित है। संगठनात्मक विखंडन और राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण कृषकों की आवाज़ नीतिगत मंचों तक प्रभावशाली ढंग से नहीं पहुँच पाती। अतः स्वायत्त कृषक परिषदों की स्थापना, जिन्हें नीति आयोग जैसी संस्थाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, तथा डिजिटल और सहकारी नेटवर्किंग के माध्यम से लघु एवं सीमांत किसानों की समस्याओं का

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

समेकन कर नीति संवाद में उन्हें भागीदार बनाना अत्यंत आवश्यक है। उपर्युक्त चुनौतियाँ केवल तकनीकी या आर्थिक ही नहीं हैं, बल्कि ये सामाजिक, पर्यावरणीय और संरचनात्मक स्तर पर भी गहरे प्रभाव डालती हैं। कृषि क्षेत्र को सतत, न्यायोचित और उत्पादनशील बनाए रखने के लिए इन समस्याओं का समाधान एक समावेशी नीति-दृष्टिकोण, संवेदनशील शासन तंत्र, और दीर्घकालीन कृषक सशक्तिकरण योजनाओं के माध्यम से ही संभव है। यदि भारत को खाद्य सुरक्षा, ग्रामीण समृद्धि और सामाजिक न्याय के लक्ष्यों को प्राप्त करना है, तो कृषि संकट की इन जड़ों तक पहुँचकर तत्काल और प्रभावी कार्यवाही की आवश्यकता है।

भारत में किसान आंदोलनों और कृषि नीतियों के बीच एक महत्वपूर्ण संबंध स्थापित हुआ है, लेकिन कृषि क्षेत्र भविष्य में कई जटिल समस्याओं का सामना करने जा रहा है। इन समस्याओं का समाधान केवल किसानों के जीवनयापन के लिए महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह देश की सामाजिक-आर्थिक स्थिरता और खाद्य सुरक्षा के लिए भी आवश्यक है। इस अनुभाग में, हम आधुनिक भारत में कृषि क्षेत्र के सामने आने वाली मुख्य चुनौतियों का अवलोकन करेंगे और उनके संभावित समाधानों का सुझाव देंगे। भारत में जल संसाधन अत्यंत सीमित हैं, और कृषि जल के सबसे बड़े उपभोक्ता के रूप में अत्यधिक दबाव में है। अतिवृष्टि, सूखा, और भूजल स्तर में गिरावट जैसी समस्याएं किसानों के लिए जीवनदायिनी संसाधन को संकट में डाल रही हैं। रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के अत्यधिक प्रयोग से भूमि की उपजाऊ शक्ति घट रही है, जिससे पर्यावरण प्रदूषण और स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं बढ़ रही हैं। भूमि के अधिकारों को लेकर अनेक विवाद उत्पन्न होते हैं, विशेषकर आदिवासी और दलित किसानों के बीच। इसके अलावा, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के कारण भूमि अधिग्रहण के मामले भी बढ़ रहे हैं, जिससे किसानों को उनकी आजीविका से वंचित होना पड़ता है। किसानों के पास संगठित आवाज़ का अभाव है, जिससे उनकी समस्याएं राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावी ढंग से प्रस्तुत नहीं हो पातीं।[xvi]

समाधान:

- जल संरक्षण की आधुनिक तकनीकों, जैसे ड्रिप सिंचाई एवं वर्षा जल संचयन, का समावेश किया जाना चाहिए।
- पारंपरिक जल स्रोतों, जैसे कुंओं एवं तालाबों का पुनरुद्धार आवश्यक है।
- ऐसी सतत कृषि पद्धतियों को बढ़ावा देना चाहिए, जो न्यूनतम जल उपयोग के साथ पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखें।
- ऋण माफी के साथ-साथ ऋण वितरण हेतु एक पारदर्शी एवं न्यायसंगत प्रणाली की स्थापना की जानी चाहिए।
- न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) की विधिक गारंटी तथा बाजार में उचित मूल्य की सुनिश्चितता आवश्यक है।
- कृषि बीमा योजनाओं को अधिक प्रभावी एवं समावेशी बनाकर किसानों तक उनकी पहुँच सुनिश्चित की जानी चाहिए।
- जैविक एवं प्राकृतिक खेती को प्रोत्साहित करने के लिए समुचित प्रोत्साहन एवं समर्थन दिया जाना चाहिए।
- पर्यावरण-अनुकूल कृषि तकनीकों के लिए किसानों को प्रशिक्षण प्रदान करना आवश्यक है।
- जैविक कृषि के क्षेत्र में सरकार द्वारा प्रदत्त आर्थिक एवं तकनीकी सहायता को और अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए।
- भूमि स्वामित्व और पट्टे के वितरण की प्रक्रिया पारदर्शी तथा न्यायसंगत होनी चाहिए।
- किसानों की पूर्व-सहमति के बिना किसी प्रकार का भूमि अधिग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।
- भूमि सुधार कानूनों का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाना चाहिए।
- डिजिटल तकनीकों एवं स्मार्ट कृषि उपकरणों की पहुँच ग्रामीण क्षेत्रों तक व्यापक रूप से बढ़ाई जानी चाहिए।
- ग्रामीण समुदायों में इंटरनेट सुविधा का विस्तार एवं डिजिटल साक्षरता का विकास किया जाना आवश्यक है।
- कृषि शिक्षा एवं प्रशिक्षण केंद्रों की संख्या तथा गुणवत्ता में वृद्धि की जानी चाहिए।
- किसान संगठनों को सशक्त बनाना और उनके संस्थागत ढांचे को मजबूत करना नीतिगत प्राथमिकता होनी चाहिए।
- महिलाओं एवं युवाओं की सक्रिय भागीदारी को किसान आंदोलनों तथा कृषि नीति-निर्माण प्रक्रियाओं में सुनिश्चित किया जाना चाहिए।
- किसान नेतृत्व को राजनीतिक प्रतिनिधित्व में उचित स्थान दिया जाना चाहिए, जिससे उनकी आवाज़ नीति-निर्धारण में प्रभावी रूप से सुनी जा सके।

भारतीय कृषक आंदोलन का भविष्य

भविष्य में कृषक आंदोलनों की प्रगति की कुंजी उनकी संगठित सामूहिक शक्ति में निहित होगी। इस दिशा में छोटे, सीमांत तथा समाज के हाशिए पर स्थित किसानों को आंदोलन के केन्द्र में सम्मिलित करना अत्यंत आवश्यक है। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म और सोशल मीडिया जैसे संचार माध्यमों का रणनीतिक उपयोग करते हुए किसानों की आवाज़ को वैश्विक स्तर तक पहुँचाया जा सकता है। आगामी किसान आंदोलन अब केवल आर्थिक लाभ, ऋण माफी या सब्सिडी तक सीमित नहीं रहेंगे; बल्कि ये जल संरक्षण, भूमि अधिकार, पर्यावरणीय सुरक्षा तथा महिलाओं और युवाओं की भागीदारी जैसे समावेशी सामाजिक प्रश्नों को भी अपने केंद्र में लेंगे। इस परिवर्तनशील स्वरूप के चलते कृषक आंदोलन अधिक न्यायपूर्ण, विविधतापूर्ण और लोकतांत्रिक मंच का रूप ले सकते हैं। राजनीतिक भागीदारी और

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

प्रतिनिधित्व की दृष्टि से भी किसानों की भूमिका में सशक्त विस्तार की संभावना है। भविष्य में किसान न केवल स्थानीय स्तर पर, बल्कि राष्ट्रीय और वैश्विक मंचों पर भी अपने अधिकारों की रक्षा एवं नीति-निर्धारण की प्रक्रियाओं में सक्रिय भागीदारी निभा सकते हैं। परिणामस्वरूप, कृषि नीतियाँ अधिक किसान-केंद्रित, पारदर्शी और उत्तरदायी बनेंगी। डिजिटल तकनीकों के माध्यम से कृषकों की अभिव्यक्ति और संगठन क्षमता में भी उल्लेखनीय वृद्धि होगी। मोबाइल एप्लिकेशन, ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म और सामाजिक मीडिया के माध्यम से कृषि संबंधी जानकारियाँ अधिक व्यापक और त्वरित रूप से प्रसारित की जा सकेंगी, जिससे किसान सामूहिक रूप से अपनी समस्याओं का समाधान और प्रभावशाली विरोध दर्ज कर सकेंगे।

Source- https://agricoop.gov.in

ड्रोन तकनीक, इंटरनेट ऑफ थिंग्स (IoT), कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) तथा सटीक कृषि जैसे नवाचार उत्पादन क्षमता को बढ़ाने, लागत को कम करने और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण में सहायक सिद्ध होंगे। इन तकनीकों का सुलभ, न्यायसंगत और क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप वितरण सुनिश्चित करना नीति निर्माताओं की प्राथमिकता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कृषि अनुसंधान एवं विकास संस्थानों को तकनीकी नवाचारों को किसानों तक पहुँचाने हेतु प्रभावी विस्तार सेवाओं का निर्माण करना होगा। साथ ही, किसानों को तकनीकी प्रशिक्षण, कृषि प्रबंधन एवं जलवायु अनुकूल खेती के क्षेत्र में प्रशिक्षित करना अनिवार्य होगा। नीति निर्माण प्रक्रिया में किसानों की सक्रिय और संरचनात्मक भागीदारी आवश्यक है, ताकि नीतियाँ जमीनी आवश्यकताओं और सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के अनुरूप बन सकें। जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में, कृषि नीतियों को पर्यावरणीय स्थिरता, जैविक खेती, जल प्रबंधन, और प्रदूषण नियंत्रण जैसे सिद्धांतों पर आधारित बनाया जाना चाहिए। डिजिटल मार्केटप्लेस, सहकारी समितियाँ तथा किसान उत्पादक संगठन (FPOs) जैसे संस्थागत ढाँचे विकसित करके किसानों को प्रत्यक्ष विपणन तक पहुँच प्रदान करनी होगी। इसके साथ ही, मूल्य स्थिरता बनाए रखने हेतु न्यूनतम समर्थन मूल्य (MSP) प्रणाली को प्रभावी रूप में लागू करना तथा अंतरराष्ट्रीय आयात-नियंत्रण पर संतुलित दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक होगा। किसानों की सामाजिक सुरक्षा के लिए स्वास्थ्य बीमा, जीवन बीमा, पेंशन जैसी योजनाओं का विस्तार करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। साथ ही, कृषि ऋण, फसल बीमा, और क्रेडिट की सुलभता बढ़ाकर वित्तीय समावेशन को भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए। अंततः, भारतीय कृषक आंदोलन का भविष्य तकनीकी नवाचार, सामाजिक चेतना और राजनीतिक सक्रियता के त्रिवेणी संगम से जुड़ा हुआ है। यह आंदोलन अब केवल विरोध या संघर्ष का माध्यम नहीं, अपितु कृषकों के अधिकारों की पुनर्स्थापना, सतत कृषि विकास, तथा ग्राम आधारित समावेशी लोकतंत्र के सशक्त उपकरण बन सकते हैं।

निष्कर्ष

भारतीय कृषि क्षेत्र को अधिक टिकाऊ, प्रतिस्पर्धी एवं समावेशी बनाने के लिए नवाचार आधारित हस्तक्षेप और नीतिगत सुधारों की अनिवार्यता स्पष्ट है। इसके लिए सरकार, अनुसंधान संस्थान, कृषक संगठन तथा निजी क्षेत्र के मध्य सहयोगात्मक भागीदारी अत्यावश्यक है। इस प्रकार का समन्वित प्रयास न केवल किसानों की आजीविका एवं जीवन गुणवत्ता को सुदृढ़ करेगा, बल्कि भारत की

Journal of Research and Development
Peer Reviewed International, Open Access Journal.
ISSN : 2230-9578 | Website: https://jrdrvb.org Volume-17, Issue-9(A)| September 2025

खाद्य सुरक्षा एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था को भी अधिक स्थायित्व प्रदान करेगा। औपनिवेशिक युग में नील विद्रोह, चंपारण आंदोलन, एवं खेड़ा सत्याग्रह जैसे संघर्षों ने किसानों को सामूहिक रूप से संगठित होकर शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध की शक्ति का अनुभव कराया। इन आंदोलनों ने स्वतंत्रता संग्राम में किसानों की भूमिका को भी नई दिशा दी। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत कृषक आंदोलनों ने भूमि सुधार, कर्जमाफी, न्यूनतम समर्थन मूल्य, तथा सामाजिक न्याय की मांगों को लेकर निरंतर संघर्ष किया। वर्तमान संदर्भ में ये आंदोलन अधिक संगठित, बहुस्तरीय और बहु-विषयक हो गए हैं, जो अब केवल आर्थिक हितों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि पर्यावरण संरक्षण, महिला सशक्तिकरण, तथा तकनीकी नवाचार जैसे विमर्शों को भी अपने में समाहित करते हैं। आज भारतीय कृषक अनेक जटिल समस्याओं से जूझ रहे हैं, जिनमें जल संकट, ऋणभार, पर्यावरणीय क्षरण, भूमि विवाद, एवं तकनीकी पिछड़ापन प्रमुख हैं। इन चुनौतियों का समाधान केवल राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलनों से संभव नहीं है, बल्कि इसके लिए वैज्ञानिक नवाचार, प्रभावशाली नीतिगत पुनर्गठन तथा समावेशी विकास रणनीतियाँ आवश्यक हैं। भविष्य में भारतीय कृषक आंदोलनों का स्वरूप और अधिक समावेशी, तकनीकी-संवेदनशील, एवं राजनीतिक रूप से सक्रिय होगा। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग, संगठनात्मक दक्षता, और सामाजिक सहभागिता इन्हें और अधिक प्रभावशाली बनाएगी। सरकार, नीति-निर्माताओं, अनुसंधान संस्थानों और कृषक संगठनों को एक साथ मिलकर ऐसी परिस्थितियाँ विकसित करनी चाहिए, जो कृषि नीतियों को किसानों की वास्तविक आवश्यकताओं के अनुरूप गढ़ें। इसके लिए पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, एवं नवाचार को नीति-निर्माण की आधारशिला बनाना होगा। साथ ही, सामाजिक सुरक्षा, वित्तीय समावेशन, एवं पर्यावरणीय संतुलन भी कृषि विकास के दीर्घकालिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व हैं। इस प्रकार, भारतीय कृषक आंदोलन मात्र किसानों की समस्याओं का प्रतीक नहीं, अपितु यह देश में सामाजिक-आर्थिक न्याय, लोकतांत्रिक सशक्तिकरण, एवं समान अवसरों पर आधारित विकास की आकांक्षा का सशक्त माध्यम है। इन आंदोलनों के अभाव में भारतीय कृषि, ग्रामीण समाज और राष्ट्रीय सामाजिक स्थिरता की संकल्पना अपूर्ण प्रतीत होती है।

संदर्भ सूची-

1. Stokes Eric, (1980) The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India, Cambridge University Press, pp. 19-45.
2. एस. बी. चौधरी, (1995) भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान नागरिक अशांति, वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, पृ.113-116.
A. R. Desai, Social (2005) Background of Indian Nationalism, Popular Prakashan, pp. 244-252.
3. Chandra Bipin (1989), India's Struggle for Independence (1857–1947), Penguin Books, pp. 153-158.
4. R. C. Majumdar (1969), Struggle for Freedom, Volume XI, Bharatiya Vidya Bhavan, pp. 201-205.
5. गुहा रामचंद्र गुहा, (2018), भारत का स्वतंत्रता संग्राम और किसान, राजकमल प्रकाशन, पृ. 102-110।
6. डॉ. राजेंद्र प्रसाद (2010), भारत का स्वतंत्रता संग्राम, राष्ट्रीय हिंदी साहित्य अकादमी, पृ. 245-249।
7. धनगड़े, डी.एन. (1983), भारत में किसान आंदोलन: 1920-1950, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 174–180।
8. डॉ. अम्बिका प्रसाद मिश्रा (2015), भारत में कृषि सुधार और किसान आंदोलन, राजकमल प्रकाशन, पृ. 312-318।
9. Agricultural Federalism: New Facts, Constitutional Vision. *Economic & Political Weekly*, EPW vol L.VII no 36.Johns Hopkins University Pages+1Global Institute for Sikh Studies+1
10. नारुला, स्मिता (2022). *Confronting State Violence: Lessons from India's Farmer Protests*, Columbia Human Rights Law Review, 54(1), 98। https://hrlr.law.columbia.edu/files/2022/12/Narula_Finalized-12
11. 08.22.pdf?utm_source=chatgpt.com
12. डॉ. योगेंद्र यादव एवं कुमार विजय (2022), भारतीय किसान आंदोलन: एक समकालीन परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, पृ. 89–97।
13. केंद्रीय भूजल बोर्ड। (2023)। भूजल सांख्यिकी पर वार्षिक रिपोर्ट। नई दिल्ली: जल शक्ति मंत्रालय।
14. भारत सरकार, जल संसाधन मंत्रालय। (2022)। जल उपयोग दक्षता पर वार्षिक रिपोर्ट। नई दिल्ली: भारत सरकार प्रकाशन।
15. भारत सरकार, ग्रामीण विकास मंत्रालय। (2021)। भारत में भूमि अधिकार एवं विवाद – स्थिति रिपोर्ट। नई दिल्ली: ग्रामीण विकास मंत्रालय।
16. डॉ. राकेश कुमार सिंह, (2020), भारतीय कृषि: संकट और समाधान, भारतीय विद्या संस्थान, पृ. 87-94।